International Journal of Information Movement *Vol. 9 Issue X* *(February 2025)*
Website: www.ijim.in *ISSN: 2456-0553 (online)* **Pages 9-13**

व्यक्तित्व के समग्र विकास में कर्मयोग की भूमिका (उपनिषद् परम्परा के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ॰ गजानन्द वानखेड़े
सहायक आचार्य
योग विज्ञान विभाग, स्पर्श हिमालय विश्वविद्यालय, देहरादून, उत्तराखण्ड (भारत)
Email-id :- wankhedegajanand@gmail.com

नवीन प्रसाद नौटियाल
शोधछात्र, योग विज्ञान विभाग
स्पर्श हिमालय विश्वविद्यालय, देहरादून।

शोध सार: व्यक्तित्व के विकास में कर्मयोग की विशेष भूमिका है। कर्मयोग शब्द कर्म तथा योग दो शब्दों से बना है। कर्म शब्द संस्कृत का शब्द है, जो कृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है- करना। सामान्य रुप से गीता में इसी अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। यह जीवन के प्रत्येक कर्म को अपने अन्दर सम्मिलित कर लेता है। गीता के अनुसार, कायिक, वाचिक एवं मानसिक रूप से मनुष्य जो भी करता है, वह कर्म है।
गीता में निष्काम कर्म को कर्मयोग कहा है। आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होना समता या समभाव है। यह समत्व रूप ही कर्मों में कुशलता है। यही कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है। गीता के द्वितीय अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- हे धनंजय, तू आसक्ति से रहित होकर कर्म का पालन कर। अतः कर्म करने में सफलता मिले या असफलता, दोनों ही स्थिति में समता की जो मनोवृत्ति है, वही 'कर्मयोग' है। व्यक्ति अपने जीवन में जैसा भी कर्म करता है, उसी के अनुसार उसे भविष्य का जीवन मिलता है। प्रस्तुत शोधपत्र में व्यक्तित्व के विकास में कर्मयोग की भूमिका को ही प्रतिपादित किया गया है।

मुख्य बिन्दु : व्यक्तित्व विकास, योग, निष्काम कर्म, कर्मयोग, कर्म-बन्धन, गीता, उपनिषद्, योगदर्शन।

1.0 प्रस्तावना

उपनिषदों के अनुसार जो मनुष्य आसक्ति छोड़कर ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्मों को करता है, वह पानी में कमल पत्र की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता; इसीलिए फलेच्छा का त्याग करके, किये गये कर्म ही सात्विक कहे जाते हैं। ऐसा व्यक्ति ही योगी, कर्त्तव्य-परायण साधक कहा जाता है। निष्काम कर्म के प्रति ईशोपनिषद् का दूसरा मन्त्र यह सन्देश देता है कि, कर्ता बनने का अभिमान त्याग कर, निष्काम भाव से कर्म करना चाहिए। अहंकार रहित होकर स्वयं को ब्रह्म के प्रति समर्पित कर दो-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[i]

प्रस्तुत मन्त्र में यह बताने की चेष्टा की गयी है कि, निष्काम कर्म करता हुआ मनुष्य कर्म-बन्धन के पाशों में नहीं फँसता। वह संसार में शुभकर्मों को करता हुआ सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें। अर्थात् सांसारिक दुःख से निवृत्ति प्राप्त कर कर्म-बन्धन से परे मानव जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। कर्मों के बन्धन से मुक्त कराने के निमित्त इससे पृथक् कोई दूसरा साधन नहीं है।

इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं- 'इस लोक में अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। मनुष्यों की परमायुः सौ वर्ष तक बतलायी गयी है। उस शास्त्रविहित आयु का अनुवाद करते हुए यह विधान किया गया है कि यदि सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करें तो नित्य नैमित्तिक कर्मों को करते हुए जीने की इच्छा करें। इस प्रकार जीने की इच्छा करने वाले तुझ मनुष्यत्व मात्र का अभिमान करने वाले के लिए अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों को करते हुए जीवन यापन करने की इच्छा करें।[ii] प्रत्येक मनुष्यों को अपने-अपने वर्णाश्रम के लिए विहित कर्म का विधान बताया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥[iii]

इस समय जीव ने जैसा अपने जीवन में, कर्म किया है, उसी के अनुसार उसका भविष्य जीवन भी होगा। अतएव इस स्वरूप को अच्छा बनाने के लिए जीवित अवस्था में उसे शुभकर्म करना चाहिए। ज्ञान प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास करना चाहिए एवं उपनिषद् आदि धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[iv]

तपस्या के कारण पुण्य के उदय होने से तत्व ज्ञान की प्राप्ति जीवित अवस्था में ही यदि किसी जीव को हो जाय, तो उसके ज्ञान के प्रभाव से उसकी वासना नष्ट हो जाती है, अर्थात् क्रियमाण कर्म का नाश हो जाता है एवं सचित कर्म भी शक्तिहीन हो जाता है। 'यह जीवन-मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में प्रारब्ध कर्म के अनुसार जीव का स्थूल शरीर स्थिर रहता है और पश्चात् प्रारब्ध का नाश हो जाने पर शरीर का पतन हो जाता है और जीवात्मा अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव करता है। उसके बाद चरमपद की प्राप्ति होती है।[v]

उपनिषदों में कर्म की गति का सविस्तार वर्णन है। 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्ग का वर्णन है। पुण्य कर्मों से अच्छी योनि में तथा पाप कर्मों से कुत्सित योनि में जीव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

आत्म-साक्षात्कार के लिए तथा ब्रह्मज्ञान के लिए जीव को कायिक, वाचिक तथा मानसिक संयम करना अत्यावश्यक है। सत्य का पालन करना, किसी की वस्तु का अपहरण न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, इन्द्रियों का निग्रह करना, हिंसा से विरक्त रहना, माता-पिता एवं अतिथियों का देवता के समान आदर करना, निन्दनीय कर्मों को न करना, संसार के विषयों को ब्रह्मज्ञान का शत्रु समझना इत्यादि कर्मों के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के लिए अपने अन्तःकरण को हर तरह से पवित्र रखना अत्यावश्यक है।

आचार्य शंकर का कहना है कि गर्भाधान से लेकर शमशान तक कर्मों को करते हुए जो जीने की इच्छा करता है, उसे ब्रह्मविद्या के साथ ही जीवित रहना चाहिए। जो उपासक विद्या और अविद्या को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।[vi] अमृतत्व की प्राप्ति के मार्ग को बताते हुए कहा गया है कि वह जो सत्य है, वही आदित्य है। इस आदित्य- मण्डल में जो पुरुष है तथा जो पुरुष दक्षिण नेत्र में है, वे दोनों ही सत्य हैं। जो ब्रह्म की उपासना करने वाला तथा यथोक्त कर्म को करने वाला है, वह अन्तकाल के उपस्थित होने पर आदित्यमण्डल में स्थित आत्मा से **"हिरण्यमयेन पात्रेण"**[vii] इत्यादि मन्त्र के द्वारा इस प्रकार आत्म प्राप्ति के द्वार की याचना करता है। अब यह जानना जरूरी है कि कर्म है क्या? पुरुष और प्रकृति ये दो हैं। इनमें से पुरुष में कभी परिवर्तन नहीं होता और प्रकृति कभी परिवर्तन रहित नहीं होती है। जब यह पुरुष प्रकृति के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब प्रकृति की क्रिया पुरुष का 'कर्म' बन जाती है; क्योंकि प्रकृति के साथ

संबंध मानने से तादात्म्य हो जाता है। तादात्म्य होने से जो प्राकृत वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनमें ममता होती है और उस ममता के कारण अप्राप्त वस्तुओं की कामना होती है। इस प्रकार जब तक कामना, ममता और तादात्म्य रहता है, तब तक जो कुछ परिवर्तन क्रिया होती है, उसका नाम 'कर्म' है।

तादात्म्य के टूटने पर वही कर्म पुरुष के लिए 'अकर्म' हो जाता है अर्थात् वह कर्म क्रियामात्र रह जाता है, उसमें फलाजनकता नहीं रहती, यह कर्म में अकर्म है। 'अकर्म' की अवस्था में अर्थात् स्वरूप का अनुभव होने पर उस महापुरूष के शरीर से जो क्रिया होती रहती है, वह 'अकर्म' में कर्म है।[viii] तात्पर्य यह हुआ कि अपने निर्लिप्त स्वरूप का अनुभव न होने पर भी वास्तव में सब क्रियाएँ प्रकृति और उसके कार्य शरीर में होती है; परन्तु 'प्रकृति' या 'शरीर' से अपनी पृथकता का अनुभव न होने से वे क्रियाएँ कर्म बन जाती हैं।[ix]

गीता को कर्मयोग का ज्ञान योग से कोई विरोध नहीं है, अपितु गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी द्वारा ही सम्पादित हो सकता है। देहधारी प्राणियों के लिये कर्मों का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है।[x] प्रकृति के सत्त्व-रजस्-तमो गुण सब प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं, यह सारा लोक कर्म से बँधा है।[xi] गीता ने कर्मयोग में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्भूत समन्वय किया है। गीता कर्म का निषेध नहीं करती; कर्म में फलाशक्ति या कामना का निषेध करती है। वासना, कामना, आसक्ति या फलाकांक्षा कर्म का विषदन्त है, जो कर्ता को बन्धन में बाँधता है। इस विषदन्त को निकाल देने पर कर्म में बांधने की शक्ति नहीं रह जाती।

गीता का कर्मयोग 'नैष्कर्म्य' (कर्म निषेध) नहीं है, अपितु निष्काम कर्म (कामना रहित कर्म; कामना निषेध) है। 'सन्यास' का अर्थ कर्म का त्याग नहीं है, अपितु कामना का त्याग है। त्याग का अर्थ कर्म का त्याग नहीं, अपितु कर्मफल का त्याग है।[xii] गीता की सुप्रसिद्ध उक्ति है– कर्म-फल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं, अतः तुम कर्म फल की कामना मत करो।[xiii]

हमें कोई न कोई कर्म करना ही है। किन्तु हमें यह देख लेना आवश्यक है कि हमारा आचरण धर्म का हित सम्पादन करने वाला हो, जिसका परिणाम अध्यात्मिक शान्ति और संतोष की प्राप्ति है। कर्म योग आचरण का वह मार्ग है, जिसके द्वारा सेवा के लिए उत्सुक साधक अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

गीता का प्रतिपाद्य विषय ही है निष्काम कर्मयोग, जिसे कर्मयोग की संज्ञा भी दी जाती है। द्वितीय अध्याय में भगवान् ने कहा है- "धनंजय, आसक्ति से रहित होकर कर्म का पालन करों। कर्म करने में सफलता मिले या असफलता दोनों में समता की जो मनोवृत्ति है, उसे ही 'कर्मयोग' कहते हैं।"[xiv]

कर्म तीन तरह के होते हैं- क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध। वर्तमान में जो कर्म किये जाते हैं, वे 'क्रियमाण' कर्म कहलाते हैं। वर्तमान से पहले इस जन्म में किये हुए अथवा पहले के अनेक मनुष्य जन्मों में किये हुए जो कर्म संगृहीत हैं, वे 'संचित' कर्म कहलाते हैं। संचित में से जो जो कर्म फल देने के लिये प्रस्तुत (उन्मुख) हो गए हैं अर्थात् जन्म, आयु और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के रूप में परिणत होने के लिए सामने आ गये हैं, वे 'प्रारब्ध' कर्म कहलाते हैं। उपनिषद् में ज्ञान का प्राधान्य है, कर्म एवं उपासना गौण है। नवम् मन्त्र के पूर्व में शंकराचार्य का कहना है- 'ईशावास्योपनिषद् में प्रथम मन्त्र के द्वारा सभी एषणाओं के त्याग पुरस्सर ज्ञान निष्ठा का वर्णन किया गया है।[xv] यही वेदों का सर्व प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ है।

अज्ञानी तथा जीने की इच्छा वालों के लिए ज्ञान निष्ठा संभव न हो सकने के कारण उनके लिए 'कुर्व्वनेवेह कर्माणि' इत्यादि मन्त्र से कर्मनिष्ठा बतलायी गयी है; यह दूसरा वेदार्थ है।

मन्त्रों द्वारा प्रदर्शित इन दोनों निष्ठाओं को बृहदारण्यकोपनिषद् में भी बताया गया है- **'सोऽकामयत जाया से स्यात्।'**[xvi] अर्थात् उसने कामना किया कि मेरी पत्नी हो। इस श्रुति के द्वारा सिद्ध होता है कि कर्म अज्ञानी तथा सकाम पुरुषों के लिये है। **"मन एवास्यात्मा वाग्जाया।"**[xvii] अर्थात् मन ही इसकी आत्मा है, वाणी स्त्री है, इत्यादि वचनों से भी 'कर्मनिष्ठा का अज्ञानी और सकाम होना तो निश्चित रूप से जाना जाता है तथा उसी का फल सप्तान्त सर्ग है। उसमें आत्मभावना करने से ही आत्मा की स्थिति है।'

आत्मज्ञानियों के लिए तो वहाँ 'हम प्रजा को लेकर क्या करेंगे, क्योंकि हमें तो आत्मलोक प्राप्त करना है।' इत्यादि वाक्यों से जायादि तीन एषणाओं के त्यागपूर्वक कर्मनिष्ठा के विरूद्ध आत्म स्वरूप में स्थिर रहना ही दिखलाया है। जो ज्ञाननिष्ठ संन्यासी हैं, उन्हें ही असूर्यानाम ते लोका से लेकर सपर्यगात् इत्यादि तक के मन्त्रों से अज्ञानी की निंदा करते हुए आत्मा के यथार्थ स्वरूप का उपदेश किया गया है। इस आत्मनिष्ठा में सकाम पुरुषों का कोई अधिकार नहीं है।

ज्ञान एवं मोक्ष के लिए निष्काम कर्म की आवश्यकता होती है। बिना कर्म के ज्ञान नहीं और बिना ज्ञान के कर्म या भक्ति नहीं। धार्मिक आचरण कायिक, वाचिक और मानसिक पवित्रता जिनके द्वारा बाह्य शुद्धि होती है और स्थूल तथा सूक्ष्म उपासनाएँ की जाती हैं, सभी कर्म के अन्तर्गत आते हैं। इन सबके द्वारा शरीर का शोधन किया जाता है और इनसे जब अन्तःकरण सर्वथा निर्मल हो जाता है, तभी उसमें ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है; तत्पश्चात् परम पद की प्राप्ति होती है।

संसार में जीना और कर्म में लिप्त न होना, बड़ी ही बुद्धिमतापूर्ण बात है; वैसे ही जैसे कोई काजल वाले कोठी से गुजरे और उसे काजल न लगे। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष का साधन केवल ज्ञान है, जो मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या को दूर करता है। कर्म और उपासना चित्त को शुद्ध और एकाग्र बनाने के साधन हैं, जिससे शुद्ध और एकाग्रचित्त ज्ञान की ज्योति ग्रहण कर सके। उपासना ध्यानरूपी मानसिक क्रिया है, कर्म और उपासना अविद्या में ही संभव है। ज्ञान और कर्म प्रकाश और अंधकार के समान परस्पर विरूद्ध है। इसका समुच्चय नहीं हो सकता। सिद्धों के लिए कोई विधि - निषेध नहीं है। तथापि उनकी स्थितिमात्र से लोक कल्याण होता है और उनके निष्काम कर्म लोक संग्रह के लिए होते हैं।

शंकर ने अपने भाष्य में विद्या का फल देवलोक की प्राप्ति और कर्मों का फल पितृलोक की प्राप्ति बताई है। यह परम्परवादी आचार्यों ने अविद्या का अर्थ कर्म समझा है। उनके अनुसार वास्तविक एवं यथार्थरूप में कर्मों का अनुष्ठान करने वाले व्यक्तियों के संपूर्ण दुर्गुण, दुर्भावनाएँ एवं असत् आचरण आदि दूर हो जाया करते हैं। वह शनैः शनैः साधकों का आश्रय प्राप्त करके शोक, मोह, हर्ष, इत्यादि मानसिक विकारों से रहित होकर स्वयं को पवित्र बना लिया करता है। यथार्थ कर्म का अर्थ है- "शास्त्र द्वारा बताये गये सत्कर्मों का सच्ची श्रद्धापूर्वक निष्कामभाव के साथ किया जाना"।

योगदर्शन के अनुसार मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं का अन्तिम लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्मेलन नहीं है, वरन् पुरुष एवं प्रकृति का सर्वथा पृथकत्व है। ईश्वर भक्ति रूपी कर्म, परम लक्ष्य मोक्ष तक पहुँचने के अन्य अनेक उपायों में से

एक है। ईश्वर केवल एक विशेष आत्मा (पुरुष विशेष) है।[xviii] वह विश्व सृष्टा अथवा संरक्षक नहीं है, वह मनुष्यों का उनके कर्मों के लिये पुरस्कार अथवा दण्ड नहीं देता है; किन्तु जब वह प्रकट हो गया तो उसके लिये कोई एक कार्य निकालना चाहिये। कहा जाता है कि वह अपने भक्तों की उन्नति में जो बाधाएँ आती है, उन्हें दूर करने में सहायता करता है। प्राणिधान (निस्वार्थ भक्ति) रूपी कर्म से हम ईश्वर की दया के पात्र बनने के योग्य हो जाते है। ईश्वर मोक्ष प्राप्ति में सहायक बनता है, किन्तु सीधा मोक्ष का दाता नहीं है।

योगदर्शन के अनुसार व्यक्ति प्रारब्ध संचित तथा आगामी कर्मों के बन्धन से ईश्वरेच्छा से मुक्त होकर समाधि तथा अष्टाङ्ग योग[xix] के माध्यम से समाधिस्थ होकर अन्तिम एवं परम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् कैवल्य को प्राप्त करता है।

2.0 संदर्भ सूची

[i] आमुखम्, ईशो०, शिव प्रसाद द्विवेदी
[ii] कुर्वन्नेवेति। कुर्वन्नेवेह ..... ईशावास्योपनिषद् (शांकर भाष्य) – 02
[iii] गीतोपनिषद् – 03/05
[iv] बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य – 04/04/02
[v] हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलास्फी, भाग-1, पृ० - 112
[vi] ईशावास्योपनिषद् – 09 तथा 11
[vii] ईशावास्योपनिषद् – 15
[viii] कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। गीतोपनिषद् – 04/18
[ix] प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:। गीतोपनिषद् – 03/27
[x] नहि देहभृतां शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। गीतोपनिषद् – 18/11
[xi] लोकोऽयं कर्म बंधनः। गीतोपनिषद् – 03/59
[xii] काम्यानां कर्मणा न्यासं सन्यासं कवयो विदुः। गीतोपनिषद् – 18/02
[xiii] कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषुकदाचन। गीता – 02/47
[xiv] योगः कर्मसु कौशलम्। गीता – 02/50
[xv] ईशावास्यमिदं सर्वं.....कस्यस्विद्धनम्। ईशावास्योपनिषद् – 01
[xvi] बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य – 01/04/17
[xvii] बृहदारण्यकोपनिषद्, शांकरभाष्य, तत्रैव।
[xviii] योगदर्शन – 01/24
[xix] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। योगदर्शन – 02 /29